चौकन्नी निगाहों से, तेज़ी से सिर इधर-उधर घुमातीं, हर दिशा की मानो खबर रखतीं।

हमें अन्दर-बाहर आने-जाने की मनाही नहीं थी उन बहुत पहले के दिनों में, पर दादा की बैठक में हमारे लिए कोई कशिश नहीं थी। दादा ही कभी भागते देख लेते तो भड़कीली आवाज़ में "ओ सुबोध, ··· ओये सुनैना," करके बुला लेते और गोद में बिठाकर अजगर की तरह हम पर बाँहें कसकर हड्डियाँ तोड़ने लगते या "आला बाला गरम मसाला" करके नोचने लगते या "अक्कड़ बक्कड़ बम्बे बो" करके गुलचे मारते या बस अपना हाथ बढ़ा देते कि "लो, उँगलियाँ चटकाओ।" हम 'आइ-आइ' करते, इधर से उधर बल खाते, पर उनके छोड़ने पर ही अलग होके भागते, मानो मज़ा नहीं भी आया हो तो भी कोई छोटी बात नहीं है कि ऐसे रोबदार शख़्स ने दबोच लिया था !

पर अधिकतर सच यही है कि हमारा नाता औरतों से ज़्यादा पड़ा, आदमियों से कम। न दादा, न बाबू, न कोई और खास। हम अन्दर दादी के लाड़ में भागते, माई के आगे-पीछे चक्कर काटते और बाहर अपनी धुन में मस्तियाते। बाद में हम दादी के चहेते रहे पर हमारी चहेती माई बन गयी। ऐसी चहेती जिसे बचाने में, जिसे बचाके निकालने में, हमारे बचपन की सारी ताक़त जुटने लगी।

बचपन से ही उसकी निरीहता ने हमें घायल कर रखा था। धीरे-धीरे हम उसे सबसे बचाने लगे—दादी से, बाबू से, दादा से। बस उसी से, उसे न बचा पाते। उसकी रीढ़ की हड्डी ही जब जवाब दे चुकी थी, डाक्टर तक ने जवाब दे डाला। कि अब दर्द होगा ही होगा। हम तो शुरू से ही जानते थे उसकी रीढ़ की हड्डी के बारे में। "वह तो बाद में ···"

2

माई का ऐसा था कि वह हमेशा झुकी रहती थी। और बोलती कम थी।

जब हम जगते तो वह नहायी-धोयी, साफ़ धोती पहने, रसोईघर में पराँठे

सेंकती होती। मटर के, सत्तू के, दाल के। आलू के, गोभी के, मूली के। दादा और दादी नाश्ता नहीं, सीधे पूरा भोजन ही करते थे। जो उनके लिए बनता, उसी में से हमारे स्कूल का टिफ़िन तैयार होता। लेकिन बाबू सुबह कुछ हल्का लेते। पाँच अन्न—गेहूँ, मूँगफली, मसूर, चना और मूँग—साबुत भीगा और अखुआ निकला, मुट्ठी-भर रोज़ाना। माई उस पर नींबू और नमक छिड़ककर बाबू को दे आती। साथ में एक बड़ा गिलास मट्ठे का।

ताज़ा मट्ठा तो हमारे यहाँ आये दिन निकाला जाता। मट्टी की बड़ी-सी हँडिया में लकड़ी की मथनी चलाती माई। वहीं आँगन में पटरे पर बैठकर, एड़ियों के बीच हँडिया दबाये, छल छल छल छल, दही और मलाई की उछलाई होती। फिर ऊपर मक्खन तैर जाता और बड़े-बड़े गिलासों में मट्ठा बँट जाता।

वैसे हर जो काम माई करती थी वह हरदेई भी करती थी। कौन-से काम केवल माई के, कौन हरदेई के, इसकी कोई साफ़-साफ़ बाँट नहीं थी। कभी माई मट्ठा चलाती तो कभी हरदेई, कभी माई चटनी या दाल पीसती तो कभी हरदेई, कभी माई लकड़ियाँ डालकर चूल्हा फूँकती, कभी हरदेई। इतना ज़रूर था कि भरसक ऐन पकाने का काम माई ही करती और घर का झाड़ू-पोंछा हरदेई करती। इस काम के बाद हरदेई अन्दर कमरों में कम जाती थी, वहीं आँगन-बरामदे तक माई के साथ खटर-पटर करती रहती।

बात यह है कि दादा को नौकरों का घर में घूमना बिल्कुल ठीक नहीं लगता। चोरीचपाटी का डर अलग, ऐसी छूट दी तो मुँह भी लगने लगेंगे। उनको यह भी चिन्ता थी कि अन्दर की बातें बाहरवाले को पता नहीं चलनी चाहिए, घर की बात घर में ही रहे। और यह क़ौम गन्दगी तो फैलाती ही है। इसलिए ड्योढ़ी में कुएँ के पास भिश्ती, भंगी, माली, चौकीदार आदि नौकरों का बड़ा कुटुम्ब होने के बावजूद, घर के भीतर, अनेकों रोकटोक के साथ, केवल हरदेई और भोन्दू आ-जा सकते थे। भोन्दू दादा की बैठक और बाहर के बरामदे में काम सम्हालता और पीछे के दरवाज़े से हरदेई से लेन-देन करता। दादा के पास जाता तो चप्पल उतारकर, सिर पर टोपी पहनकर जाता। बाल भी क़रीब-क़रीब मुँडवाके रखता, मालिक की सफ़ाई-पसन्दगी की खातिर। अन्दर हरदेई हाथ बँटाती।

माई के साथ।

पर वह बात बाद में !

जहाँ शुरू है—बाद में तो शुरू भी गड़बड़ा गया—वह बाद के पहले का वक़्त है। उस वक़्त हम बहुत छोटे थे, दादी बहुत बूढ़ी थीं, बाबू बहुत बाहर रहते थे, दादा बहुत गुस्सैल थे, और माई बहुत भीरु थी। अपने से ही भरे, फूले-लहलहाते हमारे गुब्बारे-से बचपन में यही थे जो अलग-थलग या साथ-साथ, डोल रहे थे।

मकान के चारों तरफ़ तब खेत थे और आम-अमरूद के बाग जिनमें काम करनेवाले मज़दूरों से हमारा बस दूर से देखने का रिश्ता था। आज, जब अपने ही शहर में, पास के बाज़ार में दंगे छिड़ते हैं तो कम से कम सुबह हमें भी अख़बारों से ख़बर मिल जाती है। लेकिन तब, उन मज़दूरों की ख़बर दादा तक ही पहुँचती थी और दादा से जब बाबू तक कतराते फिरते तो हम दो नन्हीं जान की बिसात ही क्या ?

वैसे इसका यह मतलब नहीं कि हम कहीं दबे-दुबके बैठे रहते थे। पुराने मकानों की, खुली जगहों की, अपनी आज़ादी होती है, हाथ-पाँव छप-छप चलते ही हैं ! कहीं छत पर छिप के कहानियाँ गढ़ रहे हैं तो कहीं कुएँ पर बैलों को खेतों की सिंचाई के लिए गोल-गोल जुतते देख रहे हैं। पेड़-वेड़ पर चढ़ने में तो हम कभी माहिर न थे पर अमरूद की दो-चार डालों पर लटकना जानते थे ! खेतों में भी कुछ न कुछ मिलता रहता—कभी मटर खा रहे हैं, कभी चने का साग चबा रहे हैं, गेहूँ की कच्ची बालियाँ भी नोच खाते। बहुत जगह थी दादा से बच निकलने की।

दादा से पाला वैसे कम ही पड़ता था। उन्हें आखिरी दिनों तक अपनी महफ़िलों से फ़ुर्सत ही कहाँ थी ! बाहर बैठक में सारे दिन पड़े रहते, उनका खाना भी वहीं जाता, उनका सोना भी वहीं होता, प्रतिदिन मजमा भी वहीं लगता। उनकी आवाज़, अलबत्ता, अपनी पूरी बुलन्दी के साथ ड्योढ़ी-भर में गूँजती—ठहाके, किस्से, नौकरों को डफोरना, और फ़य्याज़ ख़ाँ और अब्दुल क़रीम ख़ाँ के सुर में सुर मिलाना

—"फुलवन की गैंदन मैं काना मारो रे
हो रे मोरे मीत पीहरवा ··· "

और हम दूर कहीं बाग में या छत पर बैठे भी अचानक चौंक जाते, फिर हँसकर अन्दर झाँकने दौड़ते।

दादा भी आख़िरी दिन तक अपने भोंपूवाले हिज़ मास्टर्स वॉयस पर सैवंटीएट आर. पी. एम. के रिकार्ड बजाते रहे। बाक़ी घर से उनका रिश्ता बस हाँक लगाने का था—"अरे, कोई है, शरबत भिजवाओ !" (बाद में "कोई है, चाय भिजवाओ", पर वे खुद चाय नहीं पीते थे) ··· "ज़रा कोंहड़े के फूल की पकौड़ियाँ तलवाओ" ··· "अरे कोई सुनता है, यह लो—गाँव से ढूँढ़ी[1] लाए हैं, इसके संग कुछ नमकीन भिजवाओ।" यह दादा का ही ढंग था कि यह न कहते 'करो', कहते 'करवाओ' !

दादा की हाँकों का कोई तय वक़्त नहीं था, पर उनका मुक़ाम माई ही होती जो फ़ुर्ती से माँग पूरी करने में जुट जाती। अगर दादा को 'बाहर' मान लें और माई को 'अन्दर' तो दोनों के बीच का पुल थे भोन्दू और हरदेई। मियाँ-बीवी, पर बाहर की सीमा तक भोन्दू का जहान, अन्दर की सरहद तक हरदेई का संसार। वहीं सीमा-रेखा पर चीज़ों, संदेशों, यहाँ तक कि डाँट-फटकार का भी आदान-प्रदान होता !

उनके अलावा—और हमें छोड़कर—बस बाबू थे जो जब-तब अन्दर से बाहर, बाहर से अन्दर, आते-जाते। माई और दादी के पास भीतर, फिर दादा के पास बैठक में। बाबू संगीत के लालच में दादा के पास बैठ तो जाते पर बोलती उनकी बन्द ही रहती—"जी," "सही", "बिल्कुल", जैसे एक-लफ़्ज़ी वाक्यों के सिवाय।

दादा से सब डरते थे। दादी को भी हमने दादा के साथ नहीं देखा, तकरीबन कभी नहीं, पता नहीं कैसे पति-पत्नी थे वे। दादी को—जिनसे हमारा खासा वास्ता था—मानो दादा की न होने की, न न-होने की पड़ी है। शायद दादा की नामौजूदगी में ही उनकी ज़बान इस रफ़्तार और तीखेपन से चल पाती थी कि वे किसी गतिरोधक की चाह क्यों पालने लगें ? वे अन्दर के बरामदे में, बड़े से तख़्त पर सफ़ेद चादर बिछाए और बार-बार धुले नीले मसनद से टेक लगाए, सारे दिन ठाठ करतीं। सामने आँगन और चौका और सारा कारोबार। बरामदे में ही हर अहम कमरे का दरवाज़ा खुलता तो उधर की हरकत को भी उनके आँख-कान टोहते। दादी नहाकर, सफ़ेद बाल छितराकर, ऐनक नाक पर चढ़ा, पोपले मुँह में जबान की फ़ुर्ती दिखातीं,

1. मेथी के लड्डू।

उत्तर प्रदेश के किसी छोटे शहर की बड़ी-सी ड्योढ़ी में बसे परिवार की कहानी। बाहर हुक्म चलाते रोबीले दादा, अंदर राज करतीं दादी। दादी के दुलारे और दादा से कतरानेवाले बाबू। साया-सी फिरती, सबकी सुख-सुविधाओं की संचालक माई। कभी-कभी बुआ का अपने पति के साथ पीहर आ जाना। इस परिवार में बड़ी हो रही एक नई पीढ़ी—बड़ी बहन और छोटा भाई। भाई जो अपनी पढ़ाई के दौरान बड़े शहर और वहाँ से विलायत पहुँच जाता है और बहन को भी ड्योढ़ी के बाहर की दुनिया में निकाल लाता है। बहन और भाई दोनों ही न्यूरोसिस की हद तक माई को चाहते हैं, उसे भी ड्योढ़ी की पकड़ से छुड़ा लेना चाहते हैं।

बेहद सादगी से लिखी गई इस कहानी में उभरता है आज़ादी के बाद भी औपनिवेशिक मूल्यों के तहत पनपता मध्यवर्गीय जीवन, उसके दुख-सुख, और सबसे अधिक औरत की ज़िंदगी। बगैर किसी भी प्रकार की आत्म-दया के। पर शिल्प की यह सादगी भ्रामक सादगी है। इसमें छिपे हैं कचोटते सवाल और पैना सोच।

कहानी तो एक बहाना है बड़ी-बड़ी कहानियों तक ले जाने का। **माई** में हर बात किसी संकेत से होती है, और हर संकेत के आगे-पीछे भरी-पूरी कहानी का आभास होता है। पर कहानी कही नहीं जाती। मानो बात को पकड़ पाना उसको झुठला देना है, उस पर अपनी नजर थोप देना है।

ये सारे संकेत स्मृति के सहारे मिलते हैं। स्मृति ड्योढ़ी में बड़ी हो रही लड़की की और उस 'नैरेटर' की जो 'सब कुछ' बीत जाने के बाद जो कुछ बीता है उसे समझना चाह रही है। दोनों की स्मृतियाँ गड़मड़ा गई हैं। कभी बच्ची का खिलंदड़ा, लयबद्ध बयान है, कभी नैरेटर की वयस्क दृष्टि।

शेष दूसरे फ्लैप पर

1

हम तो शुरू से जानते थे कि माई की रीढ़ की हड्डी कमज़ोर है।

डाक्टर ने भी बाद में यही कहा।

कि हरदम झुकनेवालों का यही हश्र होता है। लगातार झुके रहने के कारण रीढ़ों के बीच का तत्त्व घिस जाता है और नसों पर यहाँ-वहाँ दबाव पड़ने लगता है। कि यों झुकनेवाले को झुके रहने में भी दर्द होता है, तनने में भी दर्द होता है।

माई हमेशा झुकी रहती थी। हमें तो पता है, हम उसे शुरू से देखते आये हैं। हमारी शुरुआत ही उसकी भी शुरुआत है। तभी से वह एक मौन, झुकी हुई साया थी, इधर से उधर फिरती, सबकी ज़रूरतों को पूरा करने में जुटी।

उन दिनों ज़रूरतमन्द काफ़ी थे। राजा की ड्योढ़ी में लोगों की कमी बहुत बाद में हुई। तब तो ड्योढ़ी आबाद थी, घरवालों से, आने-जानेवालों से, नौकर-मज़दूरों से। जिनके बीच माई सारे धागों को समेटती-सुलझाती घूमती रहती।

यह हमारे बचपन की बात है। बहुत बड़ा घर था हमारा। ख़ैर, हम तो यही जानते थे कि उन दिनों सभी ऐसे मकानों में रहते थे। जहाँ बड़ी-सी छत पर लंगूर धूम मचाते थे और बच्चे रोशनदानों से नीचे झाँकते थे। जहाँ सुबह-सुबह मोर बोलते थे और आँगन में भी नाचने आ जाते थे। उनके पंखों को बच्चे खेत से, छत से बीन लाते थे। ढेर के ढेर पंख जिन्हें हम निहारते तो लगता क्या कुछ नहीं बना सकते इनसे। दिन-भर ड्योढ़ी में कोई आता था, कोई जाता था, हम मिलते थे, हम छिपते थे। और रात को जहाँ पेट्रोमैक्स जलते थे।

वह तो बाद में बिजली की लाइन आयी। हैण्ड-पम्प भी बाद में हमारे खेल की वस्तु बन गया। लेकिन पहले तो लोहे और पीतल की बाल्टियाँ थीं